प्रास्ताविक उद्‌बोधन

प्रो. युगल किशोर मिश्र

पुराण-पर्व के अन्तर्गत ''**विष्णु-पुराण-एक सांस्कृतिक अनुशीलन**'', यह गोष्ठी, विषय की दृष्टि से एवं चिन्तन की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। यह सर्वविदित है कि मनुष्य एवं सृष्टि के अन्य समस्त जीव प्रकृति में जन्म लेते हैं। लेकिन मनुष्य एवं अन्य जीवों में फर्क यह है कि अन्य जीवों या प्राणियों का सृष्टि में मात्र अस्तित्व होता है, जबकि मनुष्य का जीवन होता है। अस्तित्व का तात्पर्य है कि—जन्म से लेकर मृत्यु तक बना रहना और जीवन का तात्पर्य है—जन्म से मृत्यु के बीच में कई उपलब्धियों को हासिल करना। उपलब्धियों को प्राप्त करने की यह जो प्रक्रिया है, ईश्वर के अनुग्रह से यह सर्वतोभावेन मनुष्य में है। मानव केवल उपलब्धियों को हासिल ही नहीं करता, अपितु वह उन उपलब्धियों को अपनी भावी पीढ़ियों के लिए उत्तराधिकार के रूप में देता भी चला जाता है। अतएव हमें एक मानव के रूप में जिन महानतम उपलब्धियों की प्राप्ति उत्तराधिकार के रूप में हुई है, मैं समझता हूँ कि उनमें से एक यह ''पुराण विद्या'' भी है।

भारतीय ऐतिह्य की एक विशेषता यह है कि ऋषियों ने जिन उपलब्धियों या विद्याओं का साक्षात्कार किया और उन्हें हमें सौंपा; उनकी परम्परा किसी न किसी रूप में आज तक अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। प्रत्येक मनुष्य अपनी पीढ़ी में, जैसा भी बन पड़ता है, उसके संरक्षण के लिए प्रयत्नशील रहता है। 'प्रकृति' शब्द को यदि हम देखें तो इसमें दो शब्द मिलते हैं, एक 'प्र' और दूसरा 'कृति'। 'प्र' का अर्थ है—'प्रतिष्ठ' या, दूसरे रूप में कह लें 'कारण'; और 'कृति' का अर्थ है 'कार्य'। कारण एक है और अव्यक्त है। कार्य अनेक हैं और व्यक्त हैं, अर्थात् अव्यक्त से जब व्यक्त होता है, तभी सृष्टि की प्रक्रिया शुरु होती है। अतएव, पुराणों का एक प्रमुख विषय 'सृष्टि' हो जाता है। फलतः, अव्यक्त से व्यक्त की प्रक्रिया, तथा सान्त से अनन्त की ओर बढ़ने की प्रक्रिया ही पुराणों का प्रतिपाद्य हो जाता है। यह गमनागमन की प्रक्रिया किस रूप में, क्यों और कैसे होती है, इसका विवरण एवं रहस्योद्‌घाटन हमें पुराण ग्रन्थों के द्वारा ही मिलता है।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि 'प्रकृति' मनुष्य के लिए सबसे अधिक उपयोगी वस्तु है, लेकिन उसके साथ-साथ संस्कृति का योग न हो, तो वह 'प्रकृति' हमारे लिए उतनी उपयोगी नहीं रह पाती और यदि हम यह कहें कि कदाचित् अनुपयोगी भी बन सकती है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है। उदाहरण के लिए पृथ्वी और सूर्य को हम ले सकते हैं। पृथ्वी मनुष्य के लिए तथा अन्य प्राणियों के लिए सर्वाधिक उपयोगी है। पृथ्वी पर ही मनुष्य जन्म लेता है, पृथ्वी पर ही चलता है, पृथ्वी पर ही वह नानाविध भोज्य पदार्थों को इकट्ठा करता है, तथा उसका भोग भी करता है। मनुष्य के सर्वाधिक उपयोग में पृथ्वी आती है, किन्तु यदि सूर्य का योग न हो तो यह पृथ्वी भी कदाचित् अनुपयोगी बन जाए। यद्यपि सूर्य प्राणियों के उपयोग में उतना नहीं आता, क्योंकि न तो हम सूर्य पर चल सकते हैं, न ही हम उस पर कुछ उपजा सकते हैं। थोड़े रूप में सूर्य का प्रकाश हमें मिलता है और वह प्रकाश भी चौबीस घंटों में बारह घंटे मात्र ही मिलता है, उसमें भी हम प्रकाश का बहुत थोड़ा लाभ ही ले पाते हैं। लेकिन पृथ्वी से हम सर्वदा सम्पर्कित रहते हैं तथा उसी पर आधारित हैं। किसी भी वस्तु की उपयोगिता के लिए, किसी एक का योग होना बड़ा आवश्यक है। जिस प्रकार सूर्य का योग पृथ्वी के साथ न हो तो पृथ्वी कदाचित् हमारे लिए अनुपयोगी भी बन सकती है; ठीक उसी प्रकार, इस मानव के लिए तथा विज्ञान के लिए 'ज्ञान' का योग होना बहुत आवश्यक है। यदि विज्ञान के साथ ज्ञान का योग नहीं हुआ तो कदाचित् मानव के लिए विज्ञान न केवल अनुपादेय बन जाएगा, अपितु इससे भी आगे बढ़कर कहें तो विज्ञान मानवका ही संहारक बन जाएगा। इसलिए संस्कृति का योग, ज्ञान का योग मानव मात्र के लिए बहुत आवश्यक है। ज्ञान और संस्कृति की बहुत बड़ी धरोहर के रूप में हमारी ''पुराण-विद्या'' है; जिसका

मानव-जीवन के साथ 'योग' रहना सार्थकता के लिए परमावश्यक है।

पुराण-विद्या के अनुशीलन के क्षेत्र में जो दुर्घटना रही है, वह यह कि पाश्चात्य विद्वानों ने और उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों ने पुराण का अनुशीलन तर्क के आधार पर किया। पुराण चिन्तन के लिए निकष बनाया गया तर्क को। तर्क को निकष बनाने का प्रतिफल यह हुआ कि पुराण-विद्या के अन्तरंग को अध्येता नहीं जान सके। इसके विपरीत भारतीय अध्येताओं के साथ विडम्बना यह रही कि उन्होंने पुराण को मात्र श्रद्धा का विषय रखा। फलत: श्रद्धा के कारण हम पुराणों को जीवित तो रख सके किन्तु उसके मर्म या रहस्यों को वैज्ञानिक दृष्टि से उद्घाटित नहीं कर पाये। उसके ऊपरी सौन्दर्य को तो हमने ग्रहण कर लिया, लेकिन मात्र श्रद्धा से पुराणों के अनुशीलन के कारण हम उसके भीतर के नवनीत को प्राप्त करने में यथोचित सफलता नहीं प्राप्त कर सके। अभी बहुत कुछ प्राप्त करना शेष है। इसलिए मैं मनीषिवृन्द से यह निवेदन करना चाहूँगा कि पुराण के अनुशीलन में श्रद्धा और तर्क का मञ्जुल समन्वय रखते हुए चिन्तन-पथ पर अग्रसर हों। हम दूध में हाथ डालें और यह भावना कर लें कि नवनीत हमारे हाथ में आ जायेगा तो यह कपोलकल्पना होगी। थोड़ी बहुत स्निग्धता ही हमारे हाथ लगेगी, लेकिन वस्तुत: मात्र वह स्निग्धता तो उस नवनीत का कुछ भी अंश नहीं है। इसलिए हम पुराण के अनुशीलन में यदि श्रद्धा की मथानी को तर्क की रज्जु से आबद्ध कर मन्थन करेंगे, तभी हम उसके नवनीत को प्राप्त कर सकेंगे। अत: हमें श्रद्धा और तर्क के मञ्जुल समन्वय से पुराण-विद्या का अवगाहन करना आवश्यक है, तभी नवनीत प्राप्त हो सकेगा, जो कि अभी तक नहीं आ पाया। कुछ लोगों ने प्रयास अवश्य किया, किन्तु वह स्वल्प है।

पुराण की निष्पत्ति और पुराण का क्रम लगभग बहुत कुछ वेद के क्रम से मिलता जुलता रहा है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार हमारी परम्परा में वेद को अनादि कहा जाता है, उसी प्रकार पुराण भी हमारी अनादि विद्याएँ हैं। दूसरी विशेषता यह है कि सृष्टि के प्रारम्भ से द्वापर के लगभग समाप्ति तक, एकात्मक वेद का जिस प्रकार अध्ययन-अध्यापन होता था, ठीक उसी प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ से द्वापरयुग की लगभग समाप्ति तक विस्तृत पुराण वाङ्मय का एकात्मक रूप से अध्ययन एवं उपदेश ऋषियों द्वारा तथा आचार्यों द्वारा किया जाता था। द्वापरयुग की समाप्ति के अवसर पर भगवान् वेदव्यास भावी कलियुग के मनुष्यों की बुद्धि, शक्ति एवं आयुष्य की क्षीणता को देखते हुए जिस प्रकार उन्होंने वेदों का विभाग किया और उसे सर्वजनग्राह्य बनाया, ठीक उसी प्रकार उन्होंने पुराण-विद्या का भी विभाग किया और उन्हें अट्ठारह पुराणों के रूप में प्रस्तुत किया ताकि वह सर्वजनग्राह्य बन सकें तथा मानवीय सीमित शक्ति के अन्तर्गत वे उनके अध्ययन के विषय बने रह सकें। इस प्रकार वेद और पुराण की परम्परा इस दृष्टि से साम्य रखती है और उनको विभाग करने वाले हमारे महनीय आचार्य वेदव्यास हैं। वे वेदों का भी विभाग करते हैं तथा पुराणों का भी विभाजन करते हैं। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित उद्धरण द्रष्टव्य है—

प्रवृत्ति: सर्वशास्त्राणां पुराणस्याभवत्तदा। कलिनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य तदा विभु:॥
व्यासरूपो तदा ब्रह्मा संग्रहार्थं युगे युगे। चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे विभु:॥
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रकाश्यते॥ (पद्मपुराण, सृष्टिखंड अ. 1)

लेकिन इन दोनों के विभाजन में थोड़ा भेद यह है कि जहाँ पर वेदों के अक्षरों एवं आनुपूर्वी की यथावत् सुरक्षा के ऊपर विशेष ध्यान रखा गया है और उसके अनेक उपाय किये गये हैं, तद्वत् पुराणों के शब्दों को सुरक्षित रखने के लिए बाध्यता नहीं की गयी है। पुराणों की आनुपूर्वी में परिवर्तन आये हैं। ध्यातव्य है कि जहाँ वेदों के शब्दों को सुरक्षित रखा गया, वहाँ पुराणों के अर्थों को सुरक्षित रखा गया। विभाजन की यह सबसे बड़ी विशेषता रही और यही एक प्रकार से पार्थक्य वैशिष्ट्य भी है श्रुति और पुराण का। पुराण-विद्या परम्परा में पुराण आये, उपपुराण आये। वेदव्यास जी ने जिस रूप से पुराणों का विभाजन किया, उसके बाद उनके जो प्रवक्ता बने, उन्होंने अपने-अपने ढंग से पुराण-संहिताएँ आविष्कृत कीं, लेकिन इन सबके बावजूद मुख्यार्थ या प्रतिपाद्य की जो अविच्छिन्न धारा है, उसे

कहीं भी, किसी भी आचार्य ने नहीं टूटने दिया। इस प्रकार एक तरफ शब्द का नैरन्तर्य और अविच्छिन्न परम्परा और दूसरी ओर अर्थ का नैरन्तर्य और अविच्छिन्न परम्परा—यह दोनों हमें उन महनीय आचार्यों की कृपा से आज तक प्राप्त है। अनादि कहने का स्वारस्य भी यही है। कुछ लोग, विशेषत: पाश्चात्य विद्वान्, इस पर आपत्ति भी करते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में पुराण एक हजार वर्ष के भीतर-भीतर निर्मित हुए हैं, या बहुत आगे बढ़ेंगे तो वे गुप्तकाल तक मान लेंगे। लेकिन हमारी दृष्टि यह नहीं है। हम जब पुराण को अनादि कहते हैं और वेद के साथ-साथ स्मरण करते हैं तो इसके लिए हमारे पास तर्क भी हैं। चतुर्दशविद्या का परिसंख्यान करते हुए आचार्य कहते हैं कि—

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता:। वेदा:स्थानानि विद्यानाम्, धर्मस्य च चतुर्दश॥ (याज्ञ. सं. 1.3)

यहाँ न केवल वेदों के साथ-साथ पुराणों का भी नाम लिया गया अपितु वेदों के पहले पुराण का नामोच्चारण हुआ। दूसरे—विश्व का सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ **ऋग्वेद** है। उसमें भी और **अथर्ववेद** में भी पुराणविद्या का वर्णन है। यथा—

ऋच: सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिता:॥ (अथर्व. 11.7.4)

तात्पर्य यह है कि हमारी चिन्तन धारा में पुराण अनादि हैं। अब एक प्रश्न यह भी उठता है कि अनादि क्यों माना जाये, कैसे माना जाये और यह दृष्टिभेद क्यों है? दृष्टिभेद इसलिए है कि भारतीय चिन्तन पुराण को समग्रता की दृष्टि से देखता है और पाश्चात्य चिन्तन उसे खण्डित दृष्टि से। मेरा तात्पर्य है कि पाश्चात्य विद्वान् पुराण को एक ग्रन्थ के रूप में देखते हैं, जबकि हम पुराण को 'पुराण-विद्या' के रूप में देखते हैं। पुराण-विद्या के रूप में जब हम देखते हैं तो 'विद्या प्रवाह नित्यता' के कारण वह अनादि है और उसका प्रवाह आज तक हमें उपलब्ध है। किन्तु जब हम ग्रन्थ की दृष्टि से देखेंगे तो खण्डित दृष्टि होगी और सीमित काल में बंध जायेगी। इस प्रकार हमारी दृष्टि और उनकी दृष्टि में बड़ा मौलिक अन्तर आ जाता है। पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा जो खण्डित दृष्टि दी गयी है, इसका भी तार्किक आधार से प्रतिवाद होना चाहिए और 'पुराण-विद्या' के रूप में प्रवाहनित्यता के आधार पर इसे अनादि स्वीकार किया जाना जाहिए। इस दृष्टि का विकास, चिन्तकों द्वारा किया जाना चाहिए।

भगवान् वेदव्यास ने पुराणों में समस्त विद्याओं का संग्रह किया है। यह भी कहा जाता है कि पुराणों का प्रवर्तन समाज के अशिक्षित या उपेक्षित वर्ग के लिए भगवान् वेदव्यास ने तथा अन्यान्य ऋषि-महर्षियों ने किया। दूसरे शब्दों में हम कहें कि जिनका वेद में अधिकार नहीं था, उन्हें पुराण का अधिकार प्राप्त हुआ और इसलिए भगवान् वेदव्यास ने सर्वप्रथम जिस प्रकार वेदों का विभाजन करके पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु को वेदों का सर्वप्रथम अध्ययन कराया, ठीक उसी प्रकार पुराणविद्या का विभाजन करने के अनन्तर सर्वप्रथम 'रोमहर्षण' को उपदेश किया। रोमहर्षण सूत जाति के थे। यद्यपि इसमें भी विद्वानों में मतभेद है। आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय जी के ग्रन्थावलोकन से ऐसा लगता है कि वे रोमहर्षण को सूत या चतुर्थ वर्ण के मानने के पक्ष में नहीं हैं। वे रोमहर्षण को भी 'विप्र' मानते हैं। लेकिन अन्य विद्वानों ने रोमहर्षण को सूत माना है। सूत निश्चय ही द्विजाति से अवर हैं। फलत: पुराणविद्या द्विजाति से अतिरिक्त लोगों को दी गयी, यह स्पष्ट है। रोमहर्षण ने अपने पुत्र को तथा उन्होंने अन्य छ: शिष्यों को पुराणविद्या पढ़ाई जिसका वर्णन मिलता है। एक महत्वपूर्ण घटना यह भी मिलती है कि जब नैमिषारण्य में परम तपस्वी साक्षात्कृतधर्मा शौनक ऋषि की अगुवाई में हजारों ऋषियों ने यज्ञ किया, तब उसमें पुराण के प्रवचन हेतु सभी ऋषियों ने एक स्वर से रोमहर्षण का नाम स्वीकृत किया तथा उन्हें सादर आमंत्रित किया गया जो कि जाति से सूत थे। समस्त ऋषियों ने, एकमत से रोमहर्षण को उच्चासन, अर्थात् व्यास पीठ पर बैठाया और ऋषिगणों ने नीचे बैठकर उनसे पुराणविद्या का श्रवण किया। यह एक बहुत बड़ी उदात्त घटना है। इससे सिद्ध होता है कि हमारी भारतीय संस्कृति में जात-पांत का उतना महत्त्व नहीं है, जितना गुण का और विद्या का है। यही बात वेद भी कहता है—**योऽनूचान: स नो महान्।**

जिस समय महर्षि शौनक और समस्त ऋषिगण नैमिषारण्य में यज्ञ सम्पादित कर रहे थे, लगभग उसी समय, **महाभारत** युद्ध का प्रारम्भ हुआ था। 'बलभद्र' (भगवान् श्रीकृष्ण के अग्रज) ने **महाभारत** के युद्ध में भाग नहीं लिया और तटस्थ हो गये। इसका कारण यह था कि कौरव उनके शिष्य थे और पाण्डवों के यहाँ उनकी बहिन ब्याही थी। उन्होंने सोचा कि अगर मैं किसी पक्ष का आश्रयण लेता हूँ तो यह उचित नहीं होगा और वे तटस्थ हो गये। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी इसीलिए प्रतिज्ञा करके **महाभारत** युद्ध में सारथ्य-कर्म स्वीकार किया और कहा कि मैं युद्ध में शस्त्र नहीं उठाऊँगा। कौरव-पाण्डवों के आग्रह से बचने हेतु बलराम जी तीर्थयात्रा पर निकल गये। तीर्थाटन करते हुए जब वे नैमिषारण्य पहुँचे तो हजारों ऋषियों को पुराणविद्या का प्रवचन सूत जाति के 'रोमहर्षण' द्वारा उच्चासन पर बैठकर करते हुए देखा। समस्त ऋषियों ने तो श्री बलराम का अभिवादन किया, लेकिन रोमहर्षण ने अभिवादन नहीं किया क्योंकि वे व्यासपीठ पर आसीन थे। श्री बलराम को इसपर क्रोध आया कि बड़े-बड़े तप:पूत, वेदज्ञ, ऋषिगण तो उठ खड़े हुए हैं और ये रोमहर्षण मेरी अवज्ञा करते हुए व्यासपीठ पर बैठा हुआ है। यह मात्र मेरा ही अपमान नहीं, अपितु यह समस्त ऋषिगणों का अपमान है—यह सोचकर रोमहर्षण को शाप दिया और भस्म कर दिया। सारे ऋषिगणों ने इसके विरुद्ध श्री बलराम से कहा कि आपने ऐसे व्यक्ति को हमारे बीच से निराकृत किया जो कि पुराणविद्या का सर्वोपरि एवं श्रेष्ठ ज्ञाता था। इस पर श्री बलराम को अपने कृत्य का बोध हुआ और उन्होंने कहा कि मैं इस अपराध के लिए प्रायश्चित्त करूँगा। श्री बलराम ने ऋषिगणों को आदेश दिया कि रोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा को बुलाया जाये, और उनसे इस पुराणविद्या के प्रवचन को सुनते हुए परम्परा को चालू रखा जाये। श्री बलराम, रोमहर्षण-अपमान के प्रायश्चित्त के लिए पुन: तीर्थयात्रा पर चले गये। आजकल भारतीय संस्कृति पर जो यह आक्षेप लगाया जाता है कि पुराण या भारतीय संस्कृति में चतुर्थ वर्ण की उपेक्षा हुई है, इसका समाधान हमें इस घटना से स्वत: प्राप्त हो जाता है।

पुराणविद्या का अध्ययन एवं अनुशीलन न केवल आधिदैविक या आध्यात्मिक मर्म को उद्घाटित करता है, अपितु आधिभौतिक जिज्ञासाओं को भी समाहित करता है जिसका एक उदाहरण मिस्र की नील नदी के उद्गम की खोज है। मिस्र की नील नदी का उद्गम स्थान क्या है? इसके लिये वहाँ के लोगों ने प्रयास शुरु किये। उनमें जो सबसे प्रमुख थे, वे थे श्री विल्फोर्ड महोदय। चूंकि श्री विल्फोर्ड महोदय पुराणविद्या के ज्ञाता थे और भूगोलशास्त्र के भी ख्यातनामा विद्वान् थे, अत: उन्होंने पुराणों से सारे तथ्यों को एकत्रित कर, नील नदी के मार्ग एवं उसके उत्स का एक मानचित्र बनाया। जब उनका मानचित्र प्रकाशित हुआ, तब यूरोप के उस समय के प्रबुद्ध विद्वानों ने पुरजोर विरोध किया और उस मानचित्र को हास्यास्पद बताया। इनमें प्रमुख थे श्री एच. एच. विल्सन (जो कि वेद के भी अनुवादकर्ता थे), श्री कनिंघम तथा सेंट मार्टिन। इन सभी विद्वानों ने विल्फोर्ड का प्रचुर विरोध किया और कहा कि यह केवल कपोलकल्पना है एवं व्यर्थ है। बाद में वहीं के विद्वान् कर्नल जे. एच. स्पीक जब नये सिरे से नील नदी के उत्स की खोज में प्रवृत्त हुए तो उन्होंने श्री विल्फोर्ड के उस मानचित्र को अपने अनुसंधान का आधार बनाया और उसके अनुसार वे चले। उन्होंने तत्तत्स्थानों को खोज कर बताया कि श्री विल्फोर्ड ने अपने मानचित्र में पुराणविद्या के आधार पर नील नदी से सम्बन्धित जो-जो तथ्य बताये हैं, वे सब समुचित हैं और उसी के आधार पर कर्नल स्पीक नील नदी के उद्गम स्थल तक पहुँचने में सफल हुए। इस बात को कर्नल स्पीक ने स्वयं अपनी पुस्तक *"डिस्कवरी आफ दी सोर्स आफ नील"* में लिखा है।

उपर्युक्त उदाहरण यह प्रेरणा देने के लिए पर्याप्त है कि पुराणविद्या का अनुशीलन गंभीरता से किया जाना चाहिये। पुराणविद्या के प्रतीकों व रूपकों के निहितार्थ को समझकर यदि सृष्टि-विद्या, खगोल-विद्या, भूगोल-विद्या, यज्ञ-विद्या आदि पर गवेषणा की जाय तो ज्ञान-विज्ञान के नये आयाम खुलेंगे, इसमें सन्देह नहीं। धन्यवाद।

* * *